卐 स्वानुभव 卐

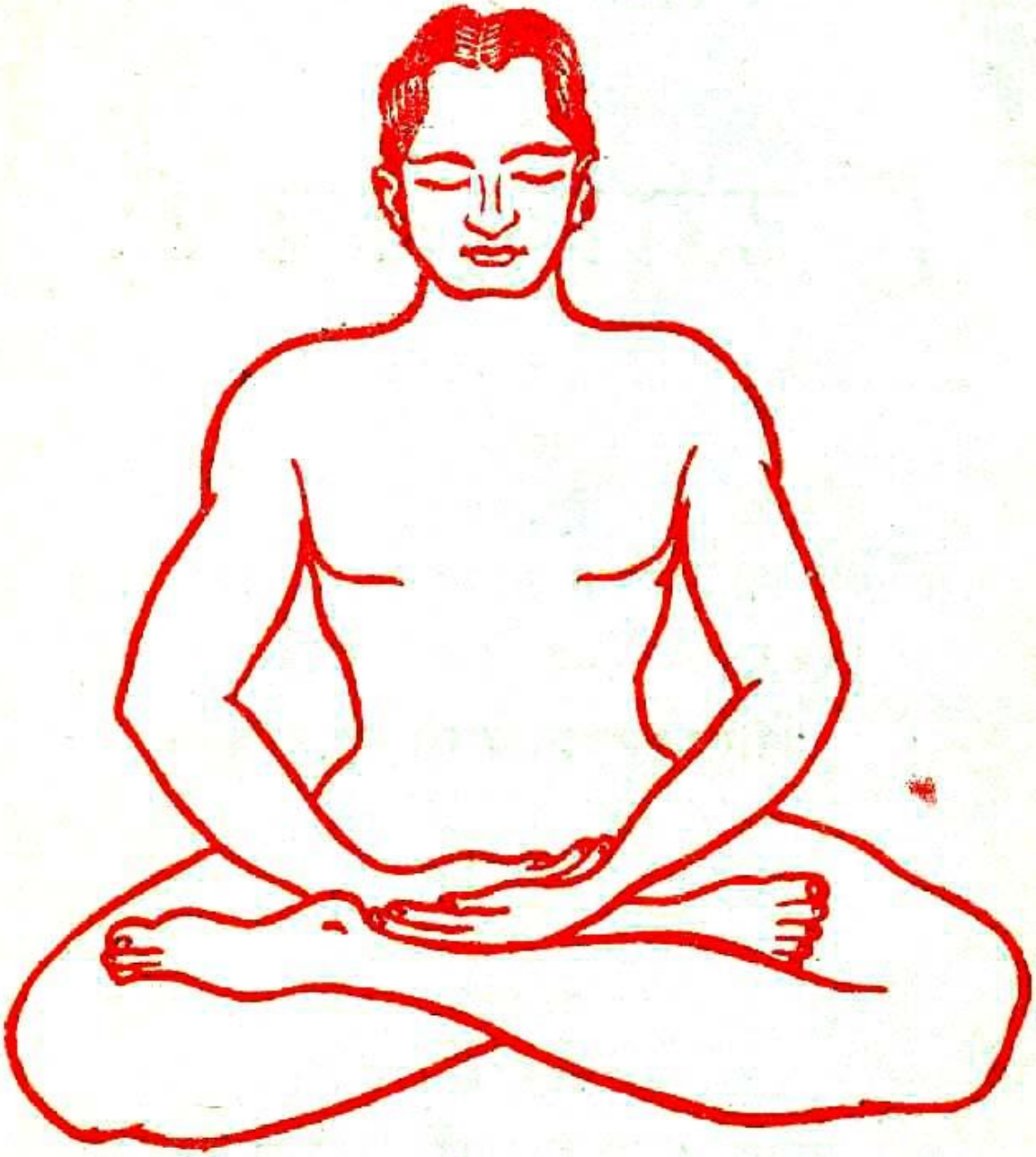

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए, रणजीत पुरी, सदर बाजार मेरठ ।

सर्वाधिकार सुरक्षित

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

स्वानुभव

लेखक :
आध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्याय साहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य गुरुवर्य्य १०५ श्री मनोहर जी वर्णी
'श्रीमद्सहजानन्द जी महाराज'

सम्पादक
डा० नानकचन्द जैन 'समरस'
सांतोल हाऊस, ठठेरवाड़ा, मेरठ शहर।

प्रकाशक :
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

* स्वानुभव *

स्वस्मिन् शुद्धं स्वयं स्तुत्वा स्वेन स्वं स्वस्य शं स्वतः
स्वस्मैं स्वस्मिन् स्वयं स्वोऽहं संचेतानि स्वसिद्धये ॥

अन्वय—स्वस्मिन् शुद्धं आत्मानं स्वयं स्तुत्वा स्वयं स्वः अहं स्वस्य शं रूपं स्वेन स्वस्मै स्वतः स्वस्मिन् स्वसिद्धये संचेतानि ।

अर्थ—अपने आत्मा में शुद्धात्मा को स्वयं भाव से स्तुत करके स्वयं स्वरूप यह मैं अपने सुखमय रूपका अपने द्वारा अपने लिये अपनी परिणति से अपने में अपनी सिद्धि के लिये अनुभव करूं ।

तात्पर्य—शुद्धात्मा का स्तवन २ प्रकार से है-एक तो जो अष्टकर्मकलंकसे मुक्त हो गये हैं, सर्वप्रकार शुद्ध हैं उन पर किये हुये लक्ष्य से शुद्ध स्थिति में अनुराग बढ़ने के कारण गद्गद होना तथा दूसरा-सामान्य विशेषात्मक निज आत्मपदार्थ में विकल्प रहित, दशा से दूर, अन्य संपर्करहित, त्रैकालिक

शुद्ध निज सामान्य तत्त्व के लक्ष्य से शुद्ध स्थिति में अनुराग बढ़ने के कारण आन्तरिक गद्गद होना। ये दोनों स्तवन द्वैत, अद्वैत अर्थात् भेद, अभेद स्तवन के ढंग से दो दो प्रकार के हैं अर्थात् जैसा ऊपर कहा है उस प्रकार तो भेद स्तवन है और वही स्तवन अत्यन्त ऐकाग्र्य होने के कारण जब बन्ध बंदक भाव व भाव्य भावक भाव का भी लेश विकल्प संभावित नहीं है तब वह अभेद स्तवन है। इसमें ज्ञप्तिक्रिया का अनुभवन मात्र स्तवन है। स्तवन निश्चय से खुद का खुद में ही है, क्योंकि स्तवन एक क्रिया है वह क्रियावान् में पाई जाती है। क्रिया से क्रियावान् भिन्न नहीं होते हैं। इस तरह स्तवन अपनी ही पर्याय है फिर उसमें जो विषय होता है उसको स्तवन कहना व्यवहार है। जो प्राक् पदवी में होता ही है, इससे आगे उत्साह और मार्ग भी मिलता जाता रहता है उस शुद्धात्मा को स्वयं मैं, स्वयं में, स्वयं भावित करके, अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा, स्वयं निजशुद्धात्मतत्व को अनुभवूं अन्यथा स्तवन निष्फल है। यद्यपि द्रव्य का स्वभाव ही यह है कि अपने को वेदकर उठने वाली तरंगों का स्वयं

ही आधार रहता है और इस नियम से आत्मा का अनुभव सतत रहता है, तथापि जब जीव आत्मा को रागादि भाववान्, मनुष्यादि पर्यायवान व अन्य अन्यरूप से अनुभव करता है तब तो वह परसमय, मिथ्यादृष्टि, विकल्पमुग्ध, स्वानुभवहीन कहा जाता है। तथा जब जीव आत्मा को आत्मा में चैतन्य-चमत्कारमय, सम्यग्ज्ञानमय निजात्मरूप से अनुभव करता है विकल्पों को छोड़ कर, तब स्वसमय सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प परिणत स्वानुभवी होता है। सो मैं भी अपने आपको, परपरणतिप्रवृति से दूर रहने के मूलरूप ज्ञायकभावरूप भावना के बल से अपनी ही शान्त, निराकुल, पवित्र शुद्ध स्थान की सिद्धि के लिये अनुभव करूं। हे निजशुद्धदेव! प्रगट होओ, क्षण भर के लिये भी रागद्वेषादि की तरंग मत उठो, सर्व वस्तु की मूर्च्छा से रहित, अपने विशेष के विकल्प से रहित अपनी स्थिति रूप रहो।

※※ स्वानुभव ※※

स्व + अनु + भव = स्वानुभव = स्व के अनुकूल होना परिणमना सो स्वानुभव है। स्व कहिये मैं स्वयं

आत्मा स्वयं परसंग रहित ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा ही उपयोग में परिणमना सो स्वानुभव है। भेद दृष्टि से आत्मा में अनेक गुण हैं। उनमें कितने ही गुण ऐसे हैं जिनके परिणमन से हित अहित का सम्बन्ध नहीं जैसे अस्तित्व अमूर्तत्व आदि। कितने ही गुण ऐसे हैं जिनके परिणमन से हित व अहित का सम्बन्ध है। ये गुण भी ज्ञान गुण के व्यक्तिरूप में ज्ञाता की परिणति से परिणमने पर ऐसे ही परिणमते हैं जो हित रूप हों। अतः ज्ञानमात्र स्व के अनुभव होने पर जो संकल्प विकल्प रहित निज आत्म तत्त्व का उपयोग में अनुभवन होता है वह स्वानुभव है। यद्यपि यह जीव स्व के अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य का अनुभवन करने में समर्थ नहीं है तथापि स्व जैसा है वैसा भाव--उपयोग करके अनुभवन नहीं करता। अनादि से प्राणी मोहादि अर्थपर्याय रूप नारकादि व्यञ्जन पर्याय रूप अपने आपको अनुभवता रहा। इस अनुभवन का आश्रय पर होता ही है क्योंकि विभावपर्याय पर को आश्रय मात्र किए बिना नहीं होती है फिर भी अनुभवन परका नहीं होता क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपना ही

अनुभवन परिणमन कर सकता है। इस प्रकार पर निमित्त-आश्रय की दृष्टि हटा कर उदित भी हों तब भी रागादि उपयोग न करके परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत द्रव्य का उपयोग करके पश्चात् सर्व प्रवृत्तियों के निवृत्ति स्वरूप ज्ञानमात्र स्व का अनुभवन होना स्वानुभव है।

चित्तनिरोधभाव

व्यवहार का विरोध न करके निश्चयनय का अवलम्बन करके परद्रव्य से भिन्न ज्ञानमय निज आत्मा के लक्ष्य के द्वारा कर्तृ कर्म भाव, स्वस्वामित्वभाव को समाप्त करके निज अद्वैत आत्मस्वभाव रूप में चित्त के रोकने में जो राग द्वेषरहित समाधि भाव जागृत होता है वह चित्त निरोध भाव हैं। चित्तनिरोधभाव में अन्य कोई तो संकल्प विकल्प हैं नहीं, मात्र आत्मभाव में चित्त का निरोध है। सो वह संकल्प विकल्प को नष्ट करने का व्रत लिए हुए है। अतः स्वानुभव की सर्व प्रथम श्रेणि चित्तनिरोधभाव है। चित्त की एकाग्रता बिना स्वानुभव का पात्र नहीं है तथा यह

चित्तनिरोध भाव पहिले से प्रारम्भ होकर छद्मस्थ अवस्था में स्वानुभव काल तक बना रहता है। इसकी किस्म में अन्तर मात्र हो जाता है। चित्त-निरोध यद्यपि विषय कषायों के प्रसंग में भी होता है फिर भी वह अनेक विकल्पों को उसी सीमा में बनाये रहता है। परन्तु शुद्धात्मा के सम्बन्ध में हुई चित्त की एकाग्रता विकल्पों की समाप्ति करती हुई रहती है। अतः यह चित्त निरोधभाव स्वानुभव का एकरूप है। जो चित्तनिरोध ही नहीं कर सकते वे नाना विकल्पजालों से मुक्ति नहीं पा सकते। चित्त-निरोधवाला तो उस काल में वही है जो एकाग्रचित्त का विषय है अतः सर्व सम्बन्ध को समाप्त करके शुद्धात्मा के चिन्तन में निश्चय की शैली से रत आत्मा उस काल में शुद्धात्मोपयोगमुखेन है। इस चित्त निरोध भाव को करना प्रथम कर्त्तव्य है।

⁂ आत्मसन्मुखोपयोग ⁂

आत्मस्वभाव की ओर चित्त की एकाग्रता करने वाले आत्मा का उपयोग अब आत्मसन्मुख हुआ है। जैसा आत्मस्वभाव है उस ही आकार उपयोग

परिणम रहा है और वह उपयोग अपने ज्ञेय को एक रूप से रखने के लिये उद्यत हो रहा है। चित्त-निरोधभाव के फलस्वरूप हुआ यह आत्मसन्मुखोप-योग समस्त विकल्प बाधाओं को मेटता हुआ स्वात्म-सुख की प्रथम भेंट है। यहाँ उपयोग भी आत्मस्वरूप है व जिसके सन्मुख हुआ है वह भी आत्मस्वरूप है इसलिए ऐसे सदृश एक ही ज्ञानज्ञेय का मेल सब विषमताओं का नाश है। यह स्वानुभव की दूसरी सीढ़ी है। शुद्ध उद्देश्य को लेकर किए हुए चित्तनिरोध के अनन्तर आत्मा के सन्मुख उपयोग हुआ है। यहाँ यह उपयोग आत्मा की भेदशक्तियों को गौण करके सर्वधर्मी को अभेद स्वरूप से प्रतीत करके उस धर्मी के समक्ष है। इस भाव में ध्याता पृथक्-पृथक् शक्तियों का अनुभव नहीं चाहता तथापि सविकल्पभाव है। अभेदस्वभावी धर्मी आत्मा का विचार ज्ञानोपयोगरूप चल रहा है। इसमें श्रुतांश की मुख्यता है। इस जीव ने आत्मसन्मुखोपयोगकी चेष्टा नहीं की, इसमें कारण मोहसंस्कार है। मोह में अंतर्मुखी यत्न नहीं होता। वहिर्मुखी यत्न होता है। वहिर्मुखी यत्न का फल क्लेश है। अन्तर्मुखी

यत्न का फल समाधि है। हे आत्मन् ! सर्वद्रव्यों को स्वतन्त्र जानकर सम्बन्ध बुद्धि छोड़ो और सर्वओर से चित्त हटाकर अपने आत्मा के सम्मुख उपयोग करो।

भावश्रुत

जिस आत्मा ने श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को ज्ञानस्वभावमय निश्चित किया उसने अब नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से अनेक विकल्पों से जो बुद्धि आकुलित थी उसे श्रुतज्ञान प्रमाण से एकत्व के निश्चय के अनन्तर अभेद स्वभाव के उपयोग में कर दिया। इस महान् पुरुषार्थ के कारण श्रुतज्ञानतत्त्व भी आत्माभिमुख हो गया। अब यहाँ यह आत्मा विकल्प जालों से अवकाश पाकर आदि मध्य अंतकर रहित केवल अपने आपको वेदन करने लगा। यह निश्चय भाव श्रुतभाव आत्मसम्मुखोपयोग में विशेषता करता हुआ अनाकुल निज आत्मा की ज्ञप्ति कर रहा है। अहो ! ज्ञानी की लीला अद्भुत है उसने श्रुतज्ञान के विशेषों के द्वारा ही तो आत्म-

वस्तु को नाना गुणपर्याय आदि विकल्पों से जाना और उस ही भावश्रुत के बल के द्वारा एक साथ पृथक् पृथक् विकल्पों को मेटा। अभेदस्वभावी अनंतधर्मा अखंड निज चैतन्य का वेदन किया। यह भावश्रुत रूप अनुभव ज्ञानी की अगली श्रेणियों की पक्की नीव है। इस अनुभव वाला महापण्डित निर्भय निराकुल हो अपने सत्पथ के विहार का पूर्ण दक्ष अधिकारी हो जाता है। यह अनुभवी ऐसा निश्चल है जो सहस्त्र उत्पातों से भी विचलित न हो सकेगा।

भावमति

मनके अवलम्बन से उत्पन्न होकर आत्मसन्मुख उपयोगी होकर भावश्रुत से आत्मवितर्क द्वारा दृढ़ोपयोगी होकर पुनः मनके निमित्त से मतिज्ञान उत्पन्न करके पश्चात् मन के अवलम्बन से रहित और श्रुत के वितर्कों से भी रहित निर्विकल्प अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव का संवेदन करना भावमति है। यहाँ यह भावमति रूप अनुभव यद्यपि मनके निमित्त से

उत्पन्न होने से अनिन्द्रिय है तथापि उत्पत्ति के बाद ज्ञप्तिक्रिया प्रवर्तन में मन की सहायता नहीं है। अतः यह अनुभव अतीन्द्रिय कहलाता है। भाव-श्रुत सविकल्प था यहाँ यह भावमति निर्विकल्प है। यद्यपि सभी मतिज्ञान मात्र ज्ञप्ति के कारण ज्ञप्ति विषय में निर्विकल्प हैं तथापि संज्ञावों की तीव्रता होने से सविकल्प हैं। किन्तु आत्मानुभव के काल में ज्ञप्ति की अपेक्षा तो निर्विकल्प हैं ही, साथ ही रागद्वेष की व्यक्तता न होने से रागादि विकल्प रहित हैं। यह भावमति स्वानुभव है। ज्ञान ५ हैं जिनमें श्रुतज्ञान सविकल्प है, शेष चार ज्ञान निर्वि-कल्प हैं। श्रुत अथवा श्रुतांशो द्वारा हुआ वितर्क निस्तरंग अवस्था नहीं और ऐसा अनुभवन निर्विकल्प नहीं। श्रुतज्ञान की कल्पनाओं को और विषयोन्मुख इन्द्रिय अनिन्द्रिय वृत्तियों को अहित रूप अवधारण करके उन ज्ञानों को आत्माभिमुख बनाकर आत्मोपयोगी होकर जैसा स्वच्छ स्वभाव है वैसा अनुभवन करना भावमति स्वानुभव है। इसके विषय को जो कि अभेद स्वभाव रूप है निरंतर स्मरण करना चाहिए जब तक वही अवस्था न प्राप्त हो।

स्थिरता

भावमति द्वारा अवद्ध अस्पष्ट अनन्य केवल्य जैसा निज ध्रुव स्वभाव है वैसा अनुभव करके उसकी स्थिरता रहना स्वानुभव की अर्थक्रिया अथवा सफलता है। भावमति की स्थिरता संयम है। भावमति की भेंट होकर भी यदि प्रमाद रहा इसकी स्थिरता न पा सके और रागद्वेष का अनुवर्तन हो गया तब भावमति की पर्याययोग्यता नष्ट होकर कुछ अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल तक संसार में भटकना पड़ेगा। इसकी स्थिरता का उपाय अखंड अभेद स्वभावी गुणपर्यायकल्पना के अविषयभूत आत्मा की दृष्टि ही है सो इस दृष्टि द्वारा स्थिरोपयोगी होना मोक्षमार्ग का सर्वस्व है। विकल्प के मूल विषयिक बोध का प्रवाह स्थिर नहीं है क्योंकि उसका विषय अस्थायी है तथा अन्य अन्य है किन्तु ध्रुव आत्म-स्वभाव विषयिकबोध स्थिर होता है क्योंकि उसका विषय अनादिअनंत अहेतुक तत्त्व है तथा वह अनन्य है। छद्मस्थ अवस्था में स्थिरता का समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। यह जीव कभी स्थिर भी हुआ तो

खोटे ध्यान में यदि निर्विकल्प निरुपराग ज्ञायक स्वभाव के उपयोग में अन्तर्मुहूर्त स्थिर हो जाय तो क्षायिकभाव प्रकट हुए बिना न रहे। जैसा आत्म-स्वभाव है वैसा स्वरूप विचारे और एकाग्र होकर ध्यावे जिसमें ध्यान ध्याता ध्येय का विकल्प भी टूट जाय और अभेद आराधक होवे। तब वह स्थिरता होती है जो कर्मक्षय का मुख्य कारण है। इस ही स्थिरता का लक्ष्य होना चाहिये।

विश्राम

भावमति अथवा स्वानुभव की स्थिरता ही सत्य विश्राम है। यह जीव जब निज प्रतिभासमात्र स्वभाव के स्वरूप से वर्तता रहता है वहाँ इसे कोई परिश्रम नहीं है प्रत्युत् पूर्ण विश्राम है। परिश्रम व दुःख विषय कषायादि पराधीन भावों में होता है। जो स्वयं की वस्तु है स्वयं सहज निश्चल शान्त-स्वरूप है, उसके स्वाभाविक परिणमन में क्षोभ का लेश भी सम्भव नहीं इस तरह ज्ञप्ति क्रिया का वर्तन अथवा स्वानुभव की स्थिरता परम विश्राम है। इस

जीव ने मोहजन्य क्लेशों से थककर विश्राम का स्थान ढूंढा तो सही परन्तु चाहा व पाया वही जो क्लेश रूप ही था। दृष्टि-मोह पर्यायबुद्धि के विनाश बिना निराकुल शिवस्वरूप विश्राम का पद नहीं निहारा जा सकता स्वरूप में रमना परम-विश्राम है, उसे क्षणिक पराधीन परिणतियों में रुचिपूर्वक परिणमता हुआ मोही जीव पा ही कैसे सकता है? जहाँ समस्तश्रम विगत विनष्ट हो जाता है ऐसी ज्ञानमात्र दशा परमविश्राम है। किसी विषय में आकुलता सहित हुए जब कुछ देर हो जाती है तब दूसरे विषय पर जाने को उद्यमी होना पड़ता है। इसी तरह विषय से विषयान्तर के लिए दौड़ लगानी पड़ती है यह है श्रम व खेद। जहाँ सुखधाम ज्ञान मात्र स्वभाव रहता है वहाँ सुख का स्थान होने से किन्ही विषयों पर जाने की व्यग्रता ही नहीं होती है अतः स्वानुभव की स्थिरता स्वयं विश्राम है। ऐसा ही विश्राम हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

अद्वैतावलम्बी भाव

चित्तनिरोध की योग्यता से आत्मसन्मुख उपयोग करके भावश्रुत के वितर्कों के द्वारा निर्णीत निज-स्वभाव की भावमति अनुभूति की स्थिरता से जो विश्राम भाव हुआ है वह एक निज अद्वैतमात्र का अवलम्बन वाला भाव है। यह अद्वैतावलम्बी भाव समस्त विकल्पतरंगों से रहित शान्त निश्चल अनाकुल भाव है। यह अद्वैतावलम्बी भाव अद्वैत के विकल्प से भी रहित है। द्वैत से हटकर निज अद्वैत में उपयुक्त यह भाव समरसकरि पूर्ण होने से पूर्ण सहज सुखमय है। अपने-अपने द्रव्य गुण पर्याय के भेदविकल्प से रहित तीर्थंकर अर्हंत की भांति अष्टम भूमिका में अष्ट भूमिकाओं से परे विराजमान निजअद्वैत चैतन्य का उपयोग स्वानुभव ही है। वे आठ भूमिका ये हैं जिनको उल्लंघन करके चैतन्य भगवान से मिलन किया जाता है—१. जड़वैभवोपयोग, २. परिजनोपयोग, ३. देहोपयोग, ४. द्रव्यकर्मोपयोग, ५. विभावोपयोग, ६. अपूर्णज्ञानोपयोग, ७. पूर्णज्ञानोपयोग, ८. निजज्ञेयाकारोपयोग। इन आठ

विषयों के उपयोग को उल्लंघन करके एक उस अद्वैत में रहकर, जो अपने ही एक स्वरूप से ध्रुव है उसके अवलम्बन से उत्पन्न होने वाला और अनुभूति के काल में अवलम्बन मात्र से रहित चैतन्य स्वभावानुभव अद्वैतावलम्बी भाव है। जगत में अनेक पदार्थ हैं उनके आश्रय से बनाया हुआ भाव दुःखमय है। उस सृष्टि को छोड़कर अब निराश्रयविश्राम अथवा अद्वैतावलम्बी भाव का अवलम्बन लेना चाहिये।

स्वसंवेदनवस्तुमगनभाव

स्वानुभव की इस स्थिरता में मात्र स्वका संवेदन है ऐसे समस्त शल्य संकल्प विकल्पों से रहित विशुद्ध ज्ञान की इस वर्तनारूप वस्तु में लीनता का भाव स्वसंवेदनवस्तुमगन भाव है। यद्यपि सर्व-दशाओं में यह जीव स्वसंवेदन ही कर सकता है, परसंवेदन अशक्य है तथापि यहाँ सहजस्वभावरूप से स्वका अनुभवन स्वसंवेदन समझना। निजवस्तु स्वसंवेदन मात्र है उन समस्त औपाधिक भावों से

परे सहज स्वभावमय सहजआनन्दमय निजवस्तु के अनुभवन में मग्न रहना स्वसंवेदनवस्तुभजनभाव है। इसमें परका कोई विकल्प ही नहीं है और निज का संवेदन करते हुए भी न निज का कोई विकल्प है। केवल सहज भावमय निज के अनुभव में मग्नता है। यह अद्वैतावलम्बी भाव का फल है। अद्वैतावलम्बन परम शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि के अवलम्बन में है। परन्तु स्वसंवेदनवस्तुमगनभाव किसी नयपक्ष के अवलम्बन में नहीं है। वह नय प्रमाण के विकल्प से अतीत प्रायोगिक निज का आस्वाद है। सार परमहित यही भाव है। अन्य भावों की दृष्टि त्याग कर इसी भाव के सन्निकट में पहुँचना चाहिए। इसके फलस्वरूप यह स्वसंवेदनवस्तु मगन भाव सहज समुपलब्ध होता है। इसका अनुभव कर जीवन में सदा इसका स्मरण रखना चाहिये जब कि यह भाव न वर्त रहा हो। इसकी स्मृति भी विलक्षण आनन्द को उत्पन्न करती है।

※※ इंद्रियमनातीतभाव ※※

वह स्वानुभव अथवा स्वसंवेदनवस्तुसगनभाव इन्द्रिय और मन से अतीत भाव है। यह अत्यन्त स्पष्ट वृत्ति इंद्रियगम्य तो है ही नहीं परन्तु मन से भी गम्य नहीं। उस स्वानुभव का द्वार तो मन से जन्य है परन्तु प्रवेश मन से अतीत है। व्यवहारपक्ष की दृष्टि छोड़कर निश्चय पक्ष के अवलम्बन में भाव मन की सक्रियता है और निश्चय नय के ऐसे दृढ़ आलम्बन में जिसके बाद व्यवहारनय की उत्पत्ति न होकर आगे बढाव रहे जिसमें निश्चयनय की भी दृष्टि छूट जाय और सर्व विकल्पों से अतीत केवल ज्ञानमय स्वभाव का निर्विकल्पशैली से अनुभवन होने लगे यद्यपि वह भी भावमन के प्रभाव का फल है तथापि मन का विषय विकल्प है और वहाँ निर्विकल्प अवस्था है अतएव वह परिणमन भावमन के द्वारा भी गम्य नहीं है। ऐसा पवित्र निरपेक्ष स्वतन्त्र स्वानुभव इन्द्रियमनातीत भाव है। सर्व इन्द्रियों के विषयों को संयत करके मन को निर्विकल्प विषय में ठहराने से इस अतीन्द्रिय निजानुभव का आस्वाद होता है। अब तक संसारी जीव को मलिन परि-

णति के कारण इन्द्रिय के विषयों व मन के विकल्पों का ही परिचय रहा। अतएव आत्मा का यह एकत्वानुभव दुर्लभ रहा। विषयों और विकल्पों से आत्मा का हित नहीं है। इस दृढ़तम श्रद्धा के कारण उन विषय कषायों से विरक्ति होने पर उनसे उपयोग हटने पर स्वयं निज सहजभाव का अनुभव होता है। यही इन्द्रिय मनातीत भाव है।

⁂ निर्विकल्प दशा ⁂

प्रत्येक पदार्थ में स्वभाव है और स्वभाव की हालत है। उन दोनों में से स्वभाव की दृष्टि तो निश्चयनय रूप विकल्प है और हालत की दृष्टि व्यवहारनय रूप विकल्प है। इन दोनों में से व्यवहारनय के द्वारा आमूलचूल परीक्षण करके व्यवहारनय के पक्ष को उल्लंघन करके स्वभाव दृष्टि यत्नोपयोग से रहित सार सहज यत्नमय व सहज उपयोगमय दशा होती है। जहां न संकल्प है न विकल्प है, न कोई भेद बुद्धि है। जहां न अभेद और भेद का पक्ष है। ऐसा निर्विकल्प अनुभव सदा जयवंत होओ। इस ही का फल अरहंत और सिद्ध

देव हैं। इसके ही प्रसाद से सर्वसिद्धि व परम आनन्द है। इसकी सिद्धि के लिये परम भावों से भिन्न अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव निज ज्ञायक भाव का अनुभव करो।

स्वाचरण

यह निर्विकल्प दशा शून्य वृत्ति नहीं है, इसके अभ्यन्तर में स्व का आचरण है। स्व स्वयं सिद्ध निर्विकल्प है। अखण्ड एक है सो इसका अनुभवन भी स्वयं के ही तन्त्र सहजसिद्ध निर्विकल्प अखण्ड अद्वैत भावमय है। वही स्वाचरण व्यक्ति (प्रकटता-पर्याय-परिणमन) में स्थिर रह रहकर क्रमशः क्षपक गुणस्थानों को उलंघ कर गुण-स्थानातीत हो जाती है। यद्यपि संसारी जीव भी मात्र अपना ही परिणमन करते हैं तथापि परको निमित्त बनाकर औपाधिक भावों में ही वे परिणमते हैं अतः उनका आचरण पर विषयक होने से स्वाचरण में संक्षिप्त नहीं है जिनके स्वतन्त्र स्वतः सिद्ध अभिन्न ज्ञाता स्वभाव की सहजवृत्ति के अनुभव में स्वाचरणता

है। समस्त क्रम व अक्रम के भेद भावों से रहि अभेद स्वरूप निज चैतन्य का निर्विकल्प परिच निज चैतन्य वृत्ति द्वारा है यही स्थिति स्वाचर रूप है। स्वाचरण स्वसत्तानुभव रूप है मैं एक त्रैकालिक हूँ, सामान्य हूँ, ध्रुव हूँ, जाननमात्र हूँ जानन ही मेरी विशेष परिणति है, जानन स्वतन्त्र निरुपधिभाव है। जो जानन है सो मैं हूँ जानन प्रतिभास मात्र रूप है। ऐसी ही अपनी वृत्ति से ऐसा ही अपने को अनुभव करना स्वाचरण है। इसके लिए पूर्व में मैं स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भाव से ही हूँ, मेरा परिणमन मुझसे ही है, अन्य का मुझमें कोई दखल नहीं है इसकी दृढ़ श्रद्धा आवश्यक है। अपने को स्वाचरण में अनुभव करो।

स्वसुखानुभव

केवल चैतन्यमात्र एक निज को जानने-अनुभवने से स्वयं उत्पन्न हुआ वचनातीत निराकुल स्वरूप परम आल्हाद स्वसुख है, इस रूप परिणमना स्व-सुखानुभव है। पर को अथवा पर्याय की दृष्टि आकुलता से पूर्ण है। ऐसा यत्न करो कि पर्याय

की दृष्टि छूटे। किसी पर्याय से पर वस्तु से मेरा हित नहीं है। पर वस्तु तो मात्र अपने में ही परिणमती रहती है मुझमें किसी का सहयोग नहीं है इस यथार्थ भावना से जब प्रयोजन ही नहीं तब उनकी ओर आकर्षण नहीं रहता। उस समय एकाकी चैतन्यमय निज सत् पर ही दृष्टि रहती है, उसके अवलम्बन के पश्चात् आलम्बन के यत्न रहित निराकुल निजसुख का अनुभव होता है। स्वसुख के अनुभव का उपाय केवल निज एक का आलम्बन है। पर सम्पर्क विषयक दृष्टि आत्मा के हित रूप नहीं है। मैं निज स्वभावमात्र हूँ। मेरी करतूत चेतना है–प्रतिभास मात्र मेरा कार्य है। रागादिक विभाव कर्म के विपाक के निमित्त से हुए औपाधिक भाव हैं, वे होते हैं और उनको जानना भी मेरा स्वभाव है। जो ज्ञानभूमि में आवे उसको जानना मेरा स्वभाव है मैं अपने स्वभाव में से प्रतिभास मात्र वृत्ति को लेकर उठता हूँ। मैं एक हूँ ज्ञान और आनन्द रूप हूँ इसी प्रकार अपने को अकेला स्वसत्तामात्र अनुभवना स्वसुखानुभव का उपाय है।

⁂ शुद्धोपयोगस्वरूपमग्नभाव ⁂

पर संग से रहित अचल अखण्ड अविनाशी ध्रुव चैतन्य स्वभावमय निज शुद्ध वस्तु के उपयोग रूप निज के भाव में मग्न हुआ परिणाम शुद्धोपयोग स्वरूप मग्न भाव है। यह निज आत्मा ही सम्पूर्ण सामान्य दृष्टि से देखे जाने पर शुद्ध है और विशेष दृष्टि से देखे जाने पर अशुद्ध है, उसमें से निज शुद्ध स्वभाव के उपयोग में परिणत निज के उस स्वरूप में मग्न हुआ अन्य चिन्तवन से रहित शुद्ध के उपयोग में परिणत निज आत्म वस्तु में मग्न भाव स्वानुभव है। अहा देखो सामान्य दृष्टि का प्रताप कि यह भाव भी यद्यपि शुभोपयोगरूप है परन्तु शुद्ध स्वभाव के उपयोग में परिणत होने से उस आभ्यन्तर तप के कारण आनन्दानुभव में बाधक नहीं है। शुद्ध जिनका उपयोग है ऐसे केवली भगवान् के रूप के चिन्तवन द्वार में परिणमन और स्वभाव की प्रतीति द्वारा निर्विशेष शुद्ध स्वभाव का उपयोग होता है। और उस समय आकार व विशेष परिणमन दृष्टि से परे हो जाने पर निज स्वभाव का स्पर्श होता है। शुद्ध प्रभु के स्वरूप के चिन्तवन

द्वार से उस निज शुद्ध स्वभाव के स्पर्श होने पर हुई वृत्ति में मग्न भाव स्वानुभव है। यह सहज, निरपेक्ष, स्वतन्त्र, परम आनन्द रूप भाव है। कर्म इस आनन्द भाव से कटते हैं इस आनन्द की विशेषता ऊपर-ऊपर के गुण स्थानों में होती जाती है। यह भाव जयवन्त प्रवर्तो।

निश्चय भाव

मेरे मात्र स्वभाव में से उठा हुआ भाव मेरा है वह है चैतन्य वृत्ति जानना देखना। जानन कभी विकृत भी नहीं होता है वह तो जाननहार रहता है। सो मात्र जानना देखना निश्चय भाव है, इसका अनुभवन स्वानुभव है। रागादिभाव ये परद्रव्य कर्म के निमित से होते हैं। वे होते हों तो होओ यदि मेरा ज्ञान मेरा ही काम करे उनकी ओर ज्ञान का आकर्षण न जावे तो मात्र निमित्त नैमित्तिक भाव से हो लेंगे सो जैसे अनेक जड़ द्रव्यों का निमित्त नैमित्तिक भाव से अनेक परिणमन होते हैं वैसे यहां हो लेंवे। जो रागादि विकार है उसका व्यवहार से अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बन्ध द्रव्य कर्म से है। अशुद्ध

निश्चयनय से तो आत्मा के इसलिये हैं कि रागादि आत्मा में ही व्यक्त होते हैं। परन्तु रागादि की उत्पत्ति कर्मोदय के होने पर ही होती है। कर्मोदय की तीव्रता होने पर ही रागादि की तीव्रता होती है आदि सम्बन्ध से रागादि के होने न होने की अधीनता मेरे से नहीं है। मैं तो ज्ञाता स्वभावी हूँ। जानना मेरे मात्र स्वभाव से उठता है। मेरा निश्चय भाव चेतना है यही मेरा काम है। इस वृत्ति के अनुभव में उत्पन्न आत्मोत्थ सहज आनन्द का अनुभवी विकल्प आने पर बड़े दृढ़ परिचय के साथ प्रतीति करता है कि यही मेरा निश्चय भाव है। यह भाव जयवन्त प्रवर्तो।

स्वरसस्साम्यभाव

मेरे स्व का रस चेतना है जानना देखना तो मात्र जानन हार ही है। इसमें आकुलता स्वभाव से ही नहीं है। आकुलता तो विकार है। विकार मात्र श्रद्धा और चारित्र गुण का होता है ज्ञान सदा निर्विकार है वह चाहे कम उदित हो या अधिक अथवा पूर्ण ज्ञान स्वभावी आत्मा का निजरस जो

जानन वृत्ति है वह स्वयं समता भाव कर तन्मय है। इसी ज्ञान रस का अनुभवन होना स्व रस साम्य-भाव है। यह आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द से परिपूर्ण है, इस प्रकार श्रद्धा करने वाले भव्य ज्ञानानन्द स्वभाव के बल से सर्व संकल्प विकल्प जालों से मुक्त होकर जो सहज परिणमते हैं वही परिणति स्वरस साम्यभाव की है। आत्मा यद्यपि पर रस का भोक्ता त्रिकाल में भी नहीं है क्योंकि परके गुण पर्यायों का पर भोक्ता नहीं होता तथापि जिस निजरस के भोग में दृष्टि पर विषयक होती है वह स्वतन्त्र स्वभाव मात्रावलम्बी निजरस से विलक्षण है, वहां साम्य-भाव का उदय नहीं है अतएव वह सोपाधिक होने से निजरस नहीं। अहो यह ज्ञान मात्रानुभवन रूप निजरस समतामय सत्यसुख से स्वतः पूर्ण है। इस का परिचय न होने से इतना लम्बा अनादि काल आकुलता में व्यतीत कर डाला। गतं न शोच्यं, भविष्यं न चिन्त्यं, मैं अभी ही परिपूर्ण ज्ञानानन्द स्व-भावी हूँ। (मन वचन काय की प्रवृत्ति बन्द करके) ज्ञानभावमस्मि, ज्ञानमात्रमस्मि।

समाधिभाव

जिस परिणति में आधिभाव अर्थात् समस्त प्रकार का मानसिक पीड़न अथवा वर्तन सम कहिये शान्त हो चुका है उस अनुभवन को समाधिभाव कहते हैं। जहाँ समता का आधिपत्य है समपरिणाम का अधिगम है अथवा जहाँ आधि कहिये सर्व दुःख सम अर्थात् समान हो गये हैं, आधिव्याधि उपाधि जहां समान हो गये, संपदा विपदा में समानता आ गई उस परिणाम के फलस्वरूप निराकुल परिणमन को समाधिभाव कहते हैं। अब तक आधिव्याधि उपाधि का प्रसंग रहा, अब तीनों से रहित स्वभाव भाव का परिचय हुआ। स्वभाव के आकार ज्ञेय परिणास और इसी परिणाम के विश्राम एवं स्थिरता की स्थिति की हितरूपता का भाव हुआ। यही हित भाव प्रकट होओ। माया मिथ्या निदान शब्दों से रहित दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की स्मृति से रहित आगामी भोगों की आकांक्षा से रहित ज्ञान मात्र निज तत्त्व के अनुभवरूप यह हितकारी परिणाम सत्वर विकसित होओ। बहिरात्मा अन्तरात्मा व परमात्मा सब प्रकार के आत्म भावों में समस्त

प्रकाशमान चैतन्य भाव स्वभाव के अवलम्बन से उत्तरोत्तर निर्मल पर्याय परिणत समाधिभाव जयशील रहो। सर्व विकल्प जालों से रहित निस्तरंग निज सामान्य भाव से परिपूर्ण समाधिभाव ज्ञान प्रकाश में आओ। शुद्ध जगद्रूपोऽहम् सहजानन्दस्वरूपोऽहम्।

⁂ वीतरागभाव ⁂

समाधिभाव, स्वानुभव सहज वीतराग भावस्वरूप स्वानुभव के काल में आत्म भूमिका में जो अबुद्धिपूर्वक राग जघन्य ज्ञानी के चल रहे हैं उनको ज्ञानोपयोग स्पर्श नहीं करता। अतः स्वानुभव ज्ञानोपयोगी के रागादि भाव नहीं हैं। मैं अमूर्त चैतन्य मात्र हूँ। तर्क, वितर्क, विकल्प, संकल्प से अतीत ध्रुव चैतन्य स्वभावी हूँ, अतीत सर्व पर्यायों से न्यारा हूँ, भविष्यत् सर्व पर्यायों से परे हूँ। वर्तमान पर्याय स्वरूप नहीं हूँ। मैं ध्रुव चैतन्य स्वभावी हूँ। उक्त प्रकार के विचारों से परे किन्तु उक्त अनुभवन पर्याय में जो प्रतिभासन है वह सहज वीतराग भाव मूलक है। इस भाव में आकुलता का

लेश स्थान नहीं। जघन्य ज्ञानी के अबुद्धिपूर्वक रागादि होते हैं तो रहो अचेतन चारित्र की विकृत परिणति में। मैं स्वच्छ प्रतिभास मात्र हूँ, स्वच्छ प्रतिभास रूप अनुभवन वीतराग भाव है इस अनुभव के पश्चात् कदाचित् विकल्प आवे तो ज्ञानी के आल्हाद और विषाद एक साथ होते हैं। अहो वीतरागभाव तुम आनन्द घन हो शीघ्र फिर आवो। वीतरागभावरूप अनुपम चिन्तामणि उपलब्ध होकर अनुभव अथवा स्मृति पथ से उसका दूर होना निजघातक प्रसाद है। माया मिथ्या निदान शल्य से रहित निर्विकल्प समाधि रूप वीतराग भाव रूप है स्वानुभव जयवन्त प्रवर्तो तुम ही मंगल मूर्ति हो, लोकोत्तम हो, सत्यशरण हो। राग-द्वेषादि विभाव परिणाम शून्य स्वच्छ चैतन्य मात्र मैं हूँ।

निजधर्मभाव

समाधिभाव वीतरागभाव निजधर्म भाव ही है। यह निज स्वरूप के अवलम्बन से प्रकट होता है,

निज की विशुद्ध वर्तना स्वरूप है। निश्चय से तो निज का धर्म त्रैकालिक एक चैतन्य स्वभाव है, वह अंतर में सदा विराजमान है, उसे वर्तमान विभाव अवस्था ने तिरोहित कर दिया है। स्वभाव की शुद्ध अवस्था स्वभाव को आविर्भूत कर देती है। जो तिरोहित हुआ था वही आविर्भूत हुआ। वह सदा एक स्वभाव विराजमान है। उसकी विशुद्ध (वीत-राग) परिणति व्यवहार से धर्म भाव है। यह स्वा-नुभव निज धर्म भाव है। निज धर्म भाव प्रतिबन्धक के अभाव में स्वतः प्रकट होता है, किसी पर की दृष्टि को लेकर नहीं होता है। अतः अत्यन्त स्वच्छ स्वरूप है। हे निज धर्म भाव! तुम्हारी प्रसन्नता बिना ही संसारी बनकर आत्मा अनन्त काल भव भ्रमण में अटका। अब निजधर्म की पहिचान हुई। इसके अवलम्बन से निजधर्म भाव अवश्य उन्नत होगा। निजधर्मभाव निजधर्म की व्यक्ति है। निज धर्म से निजधर्मभाव प्रकट होता है। यह स्वभाव के अनुरूप प्रकाश है, अतः स्वच्छ सम निराकुल है। हे पूर्ण निजधर्मभावमय परमात्मन्! तुम्हारा शासन सदाकाल जयवंत रहो। समस्त संकल्प, विकल्प जालों

से मुक्त होकर निर्विकल्प निरूपाधि चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से प्रकट होने वाले निजधर्म भाव सतत जयवंत प्रवर्तो ।

⁂ यथास्वादरूपभाव ⁂

आत्मा का जैसा स्वभाव है उस ही रूप स्वाद स्वानुभव है । आत्मा का स्वभाव वह है जो किसी को निमित्त करके उत्पन्न न होकर स्वतः उत्पन्न होने का परिणमन करता है । वह है ज्ञान दर्शन रूप चैतन्य । चैतन्य वृत्ति किसी निमित्त से प्रकट नहीं होती । ज्ञान जब निज ज्ञान स्वरूप को जानने लगता है उस समय ज्ञान निज का स्वाद लेता है, यही भाव यथास्वादरूप भाव है । यथा स्वादरूप भाव स्वरूप परिचय की अवस्था से लेकर स्वरूप परिणमन की अवस्था तक तारतम्य से चलता है। स्वरूप परिचय के बिना जगत के प्राणी सहज ज्ञान आनन्द से परिपूर्ण निज स्वभाव से च्युत होकर पर की दृष्टि करके विभाव रूप से प्रवर्त कर निज ज्ञान आनन्द का खण्ड भोगकर रहे हैं अतएव आकुलित

हो रहे हैं। मैं ज्ञान स्वभावी हूँ ज्ञान स्ववृति से है, अन्य गुण, अन्य द्रव्य की वृत्ति से नहीं है। उसका कार्य निर्बाध जानन मात्र अभी भी चल रहा है। इस आत्मभूमि में उपाधिवश प्रकट हुए विभाव को ज्ञान करने वाला ज्ञान भ्रम से उसमें तन्मय होने का यत्न करता है। अहो चैतन्य स्वाद! तुम कृतकृत्य हो। जो तुम्हारे करने का है वह कर चुके। बाह्य का कार्य तुम ज्ञान बल से निपटा चुके। हे अखण्ड-चित्प्रतिभासरूप परम समाधिभाव तुम ही सर्वोत्कृष्ट शरण हो। अब परकृत परिणाम दूर हटो और ज्ञाता के स्वरूप की दृष्टि के बल से व्यक्त सहज ज्ञान आनन्दरूप स्वतन्त्र निज देव सदा जयवंत प्रवर्तो इति।

मंगल-तन्त्र

१. मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूँ ।

२. मैं ज्ञान घन हूँ, मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं अतः कृतार्थ हूँ ।

३. मैं सहज आनन्दमय हूँ, मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं अतः स्वयं तृप्त हूँ ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ ममः शुद्धम् चिदस्मि ।

कर्मत्वदृष्टि

(अध्यात्मसहस्री प्रश्न ७४७, ७४८, ७४९)

७४७—प्राप्यकर्मत्वदृष्टि में कैसी दृष्टि बनती है ?

७४७—मेरे द्वारा मैं ही प्राप्य हूं, ज्ञानगम्य हूं, अपने ही परिणामों का प्रापक मैं ध्रुव हूं, किसी भी द्रव्यान्तर को प्राप्त नहीं होता हूँ। इस दृष्टि में किसी भी अन्य द्रव्य के प्रति कर्तृत्वभाव नहीं रहता।

७४८—विकार्यकर्मत्वदृष्टि में कैसी दृष्टि बनती है ?

७४८—मेरे द्वारा विकार्य विभावापन्न मैं ही हूँ, मैं निज कर्म को चेत सकता हूँ, मैं ही मेरे द्वारा परिणम सकता हूँ, अन्य द्रव्य के गुणों में विकार नहीं कर सकता हूँ, योग्यता होने पर खुद के गुणों को ही विकृत कर सकता हूं, मेरा मेरे में ही विकार (उत्पाद) होता है, मैं अन्य द्रव्य में कुछ भी नहीं करता हूँ। इस दृष्टि से अन्य द्रव्य में बिगाड़ सुधार करने का कर्तृत्वभाव नहीं रहता।

७४९—निर्वर्त्यकर्मत्वदृष्टि में कैसी दृष्टि बनती है ?

७४९—मैं अपने आपको ही रचता हूं, में अपने ही पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता। मैं सुख दुःखादिको ही भोगता हूँ, किसी अन्य द्रव्य के भाव को नहीं भोगता। इस दृष्टि से अन्य द्रव्य को रचने या अन्य द्रव्य से रचे जाने व अन्य को भोगने आदि दुर्बुद्धि समाप्त हो जाती है।

आभार

इस पुस्तक छपवाने हेतु—

५०१ रु० श्रीमति सुधा जैन, धर्मपत्नि श्री सत्येन्द्र कुमार जैन, मौहल्ला डालमपाड़ा, मेरठ शहर ने एवं

१२५ रु० श्रीमति सुशीला त्यागी, धर्मपत्नि श्री बालेश्वर त्यागी, ८७५ इन्द्रानगर-ब्रह्मपुरी, मेरठ शहर ने दिये जिसके लिये कार्यकारिणी उनका आभार व्यक्त करती है। दोनों बहनों का सहजानंद शास्त्रमाला से अत्यन्त वात्सल्य है। उनसे समय-समय पर जो सहायता प्राप्त होती रहती है उसके लिये उन्हें धन्यवाद है।

ओम् नमः शुद्धाय, ओम् नमः शुद्धम् चिदस्मि।